

व्यक्तिगत हिंसा की दरार: कश्मीरी हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सामान्य स्थिति बहाल करने के प्रयास
The Gorge of Personalized Violence: Negotiating Normality Between Hindus and Muslims in Kashmir

राहुल पंडित
Rahul Pandita
September 22, 2014

उत्तर भारतीय राज्य जम्मू व कश्मीर इस समय भयानक बाढ़ संकट से गुज़र रहा है. कश्मीरी घाटी में बाढ़ से हुई तबाही के कारण अनेक जानें गई हैं और बड़े पैमाने पर संपत्ति नष्ट हो गई है. हालाँकि कई संगठन और लोग बचाव और राहत कार्य में लगे हैं, लेकिन भारतीय सेना की भूमिका अब तक सबसे बड़े रक्षक की रही है. बहुत-से लोगों को लगने लगा है कि कश्मीरी लोग अब भारतीय सेना को अलग नज़रिये से देखने लगे हैं. अगर हम पिछले पच्चीस वर्षों के कश्मीर के रक्तरंजित इतिहास को देखें तो लगता है कि कश्मीरी अवाम के नज़रिये को बदलने के लिए राहत कार्यों से भी आगे बढ़कर बहुत कुछ करने की ज़रूरत होगी.

लेकिन बाढ़ ने लगता है कि कुछ और भी किया है. बाढ़ ने कश्मीरी मुसलमानों को पहले के अपने पड़ोसी हिंदू समुदाय के करीब लाकर खड़ा कर दिया है. सन् 1990 में इस्लाम के नाम पर उग्रवादियों ने कश्मीरी पंडितों को अपने वतन से बेदखल कर दिया था. ये लोग कश्मीर में अपने पूर्वजों की इस धरती पर हज़ारों बरसों से रह रहे थे. सन् 1990 में घाटी की आबादी में कश्मीरी पंडितों की तादाद मुश्किल से 5 प्रतिशत रही होगी और हिंसक और धार्मिक उन्माद के कारण इन्हें घाटी से बाहर खदेड़ दिया गया. 700 से अधिक पंडितों का बर्बरता पूर्वक कत्लेआम कर दिया गया.

लगभग 350,000 से भी अधिक कश्मीरी पंडितों में से आज केवल 3,000 पंडित ही कश्मीरी घाटी में बचे हैं. भारत सरकार ने कश्मीर में रहने वाले विभिन्न समुदायों के सामूहिक कत्लेआम या अन्य किसी भी प्रकार की हिंसा को रोकने की न तो कोशिश की और न ही इसमें कोई दिलचस्पी दिखाई. अन्याय के इसी दौर में 1984 में सिक्खों के कत्लेआम और 1993 एवं 2002 में मुंबई और गुजरात में हुई हिंसा को भी शामिल किया जा सकता है. इसी तरह सरकार ने मध्य भारत और पूर्वोत्तर में आदिवासी समुदायों की दुर्दशा की भी बार-बार अनदेखी की और इतना ही नहीं, दलित समुदाय पर होने वाले अन्याय को लेकर तो आँखें ही मूँद लीं.

कश्मीर में बाढ़ की तबाही के बाद कम से कम कुछ उदार स्वर तो उठ ही रहे हैं. उन्हें उम्मीद है कि (घर खो देने की) “साज़ी किस्मत” का दर्द झेलने के कारण एक दूसरे के लिए हमदर्दी पैदा होने लगी है और इसके फलस्वरूप कश्मीरी पंडितों और कश्मीरी मुसलमानों के बीच एक ऐसी समझ पैदा हो जाएगी कि वे आपसी संबंधों को सामान्य बनाने की कोशिश करेंगे. क्या दक्षिण अफ्रीका और रवांडा की तरह कश्मीर में भी न्याय और मेल-मिलाप की संभावनाएँ हो सकती हैं ? क्या कश्मीरी पंडित भी अपने घर लौट सकेंगे? और खास तौर पर तब जब केंद्र में सत्ता में आई नई सरकार ने इस मुद्दे को अपनी प्राथमिकता की सूची में रखा है.

ऐसे हालात में जब घाटी में कश्मीरी पंडितों के घर भारी दबाव की स्थिति में औने-पौने दाम पर बेचे जा चुके हों, उनकी वापसी के लिए ज़रूरी है कि उन्हें पड़ोसियों का भरोसा प्राप्त हो. परंतु जैसा कि इवाना मैसेक सारायेवो के अपने अनुभव के बारे में लिखती हैं कि यह प्रक्रिया बहुत तकलीफ़देह होती है, भावनात्मक होती है और इसके लिए सामाजिक प्रयास भी आवश्यक होता है और उसे किसी राजनैतिक समझौते के आधार पर “ऊपर से” आरोपित नहीं किया जा सकता. इसके पीछे कितनी भी सदाशयता हो लेकिन बाहरी लोगों द्वारा दी गई अधूरी सूचनाओं के आधार पर की गई कार्रवाई अक्सर सफल नहीं हो पाती.

भले ही कश्मीरी पंडितों को अलग घरों में ही क्यों न बसाया जाए, 1990 की दरार को आसानी से भरा नहीं जा सकता. उनके लिए यह भूल पाना आसान नहीं होगा कि शायद उनके पुराने पड़ोसियों, दोस्तों या सहकर्मियों के हाथ सीधे या परोक्ष रूप में उनके प्रियजनों के खून से रंगे हुए हों. (या फिर वे बलात्कार जैसे जघन्य अपराधों में शामिल रहे हों)

प्रसिद्ध विद्वान् कॉर्नेलिया सोराब जी के अनुसार व्यक्तिगत हिंसा का रूप तब और घिनौना हो जाता है जब क्रूरता का मकसद होता है, “*दुश्मन* समुदाय को उसके घरों से निकालने के लिए उन्हें अपमानित करना, उन्हें डराना-धमकाना और उन्हें मार देना. इतना ही नहीं, यह सुनिश्चित करने के लिए कि अपने घरों से निकाले गये ये लोग भविष्य में अपने घर वापस भी न आ सकें, हिंसा में लिप्त लोग हिंसा के शिकार लोगों की पहचान और ज़मीन की निशानियों को भी पूरी तरह से बदल डालते हैं.”

इसलिए कश्मीरी पंडितों से कैसे उम्मीद की जा सकती है कि वे बिना न्याय पाए अपने घर लौट आएँ. और विकटोरिया एम. ऐस्सेज़ और रिचर्ड ए. वेनन के कथनानुसार न्याय का मतलब केवल औपचारिक कानूनी न्यवस्था नहीं होता, बल्कि एक विशेष स्थिति में लोगों को भरोसा भी होना चाहिए कि सब कुछ ठीक हो रहा है.” कश्मीरी पंडितों के साथ जो अन्याय हुआ है उसका मतलब निकलता है कि उनके पुराने पड़ोसी भी चाहते थे कि एक बार घर से निकाले जाने के बाद पंडित दुबारा अपने घर न लौट सकें और यही कारण है कि वे भी पंडितों पर किये गये अत्याचार में शामिल थे. इतना ही नहीं वे यह भी समझते थे कि कश्मीरी पंडितों को जबरन उनके घरों से खदेड़ा गया था. भले ही आज वे इससे इंकार करें या सार्वजनिक रूप में माफ़ी माँगें. कितने ही कश्मीरी पंडितों ने अपनी दुःखभरी गाथाओं की रिकॉर्डिंग में यह बताया है कि कैसे उनके पड़ोसी और दोस्तों ने संघर्ष के चरम बिंदु पर भी और खास तौर पर उस समय जब वे भयानक आर्थिक तंगी के दौर से गुज़र रहे थे, उन्हें औने-पौने दाम पर अपना घर बेचने के लिए मजबूर किया.

समझौते, सुलह और न्याय की प्रक्रिया तभी शुरू हो सकती है जब दोनों समुदाय एक दूसरे की तकलीफ़ों को समझने की कोशिश करें. जवाबी कार्रवाई के दौरान कश्मीर बहुत तकलीफ़ के दौर से गुज़रा है. लगभग 17,000 नागरिक मारे गए और इनमें से एक चौथाई लोग भारत के सुरक्षा बलों के हाथों मारे गए हैं. 8,000 से अधिक लोग गायब हो गए हैं और हो सकता है कि इनमें से अधिकांश लोग भी सुरक्षा बलों के हाथों ही मारे गए हों. बरसों तक घाटी के कश्मीरियों को छापेमारी और शिनाख्त परेड जैसे अपमान के घूँट पीने पड़े हैं.

पिछले पच्चीस वर्षों में 1990 में किये गये अत्याचारों को स्वीकार करने के बजाय अधिकांश मुसलमान जम्मू व कश्मीर के तत्कालीन राज्यपाल जगमोहन का नाम लेकर यह अफ़वाह फैलाने की कोशिश करते रहे हैं कि उन्होंने ही कश्मीरी पंडितों को घर छोड़ने पर मजबूर किया. पाल कोल्स्टो हमें याद दिलाते हैं कि “किस्से इस ढंग से या उस ढंग से या फिर अपने-आप ही नहीं चल पड़ते. ये लोग ही हैं जो किस्से गढ़ते हैं कभी कम और कभी बेहद खतरनाक ढंग से.”

यही कारण है कि ऐसे अन्याय के बीच कश्मीरी पंडितों ने निम्नलिखित रूप में न्याय की माँग की है. (इज़ाबेला डैल्फ़ा की दलील के अनुसार):

- a) दंड से छुटकारे की घोर निंदा
- b) क्षमादान करने का विशेष प्रयास (या दोनों ही, क्योंकि डैल्फ़ा के अनुसार दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं)

- c) व्यक्तिगत स्तर पर हिंसा से इंकार करना (लेकिन ऐसी कहावतें सुनाना, “ ईश्वर ही उन्हें दंड देगा” या “ईश्वर ने बाढ़ के ज़रिये उनसे बदला ले लिया”)

पच्चीस साल तक भारत सरकार ने कश्मीरी पंडितों को न्याय दिलाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई और भारत के अधिकांश बुद्धिजीवियों ने भी उनके लिए कुछ नहीं किया. इतनी भारी उदासीनता के कारण ही उनके खिलाफ़ अपराध से संबंधित अधिकांश दस्तावेज़ी सबूत भी नष्ट हो गए. लेकिन जेरुसलम में ऐचमैन पर चले मुकदमे में प्रत्यक्षदर्शियों ने जो गवाही दी, उसीके कारण फ़्रांसीसी इतिहासकार एनेट विएवियोरका के शब्दों में उनकी पीड़ा को “सामाजिक मान्यता” मिल गई.

दो समुदायों के बीच की दरार को भरने के लिए निम्नलिखित कार्रवाई (जिसमें मुख्यतः पीड़ित लोगों की व्यक्तिपरक और मनोवैज्ञानिक ज़रूरत पर ध्यान दिया जा सकेगा) ही पहला कदम होगा. और तभी कानूनी तौर पर न्याय मिलेगा. जैसा कि तेलंगाना की सांसद कविता कवकुंटा ने हाल ही में माँग की है कि फ़ारुक अहमद डार बिट्टा कराटे जैसे आतंकवादी पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए, क्योंकि यही वह शख्स है, जो कम से कम बीस लोगों की, जिनमें से अधिकांशतः कश्मीरी पंडित हैं, हत्या के लिए ज़िम्मेदार है.

और सिर्फ़ तभी 1990 की दरार को भरा जा सकेगा.

राहुल पंडित हिंदू के वरिष्ठ संपादक हैं और *Our Moon Has Blood Clots* नामक पुस्तक के लेखक भी हैं. वे *कैसी फ़ॉल 2014* में विज़िटिंग फ़ैलो हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार <malhotravk@gmail.com>
मोबाइल : 91+9910029919.
